

## श्रीमद्भागवतम् स्कन्ध 3 अध्याय 28: अष्टांग योग की प्रक्रिया

13 September 2026

### 🙏 पाठ से पहले एक निवेदन

श्रीमद्भागवत महापुराण के ये अध्यायवार सार गीता प्रेस भागवत को मुख्य आधार मानकर तैयार किए गए हैं। ये भागवत के अध्ययन में सहायक हैं, मूल ग्रंथ का स्थान नहीं ले सकते।

अध्ययन का मुख्य और अनुशंसित मार्ग गीता प्रेस की भागवत पुस्तक से सीधा पाठ है। यात्रा में, घर से दूर, या जब पुस्तक पास न हो, तब निरंतर अध्ययन, पुनरावृत्ति और समझ के लिए इन सारों का सहारा लिया जा सकता है।



अपनी माता के समीप स्थिर बैठे, दृष्टि नासाग्र पर अटल टिकाए, भगवान् कपिल अष्टांग योग के मार्ग को खोलना आरम्भ करते हैं — एक ऐसा अनुशासन जो नियन्त्रित श्वास तथा स्थिर आसन से आरम्भ होकर मन के ही उस विलय पर समाप्त होता है, जैसे दीपक की लौ बुझ जाती है, एक अखण्ड आत्मा में।

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय।

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय।

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय।

श्रीमद्भागवतम् विज्ञम में आपका स्वागत है — श्रीमद्भागवत महापुराण की पावन कथाओं तथा शिक्षाओं की एक भक्तिपूर्ण यात्रा। इस बिन्दु तक कपिल-गीता अपने दो महान् स्तम्भ स्थापित कर चुकी है — साङ्ख्य दर्शन, जो पुरुष (चेतन) को प्रकृति (जड़) से पृथक् करता है, तथा निष्काम भक्ति की वह अतुलनीय महिमा, जिसे मुक्ति से भी श्रेष्ठ घोषित किया गया है। अध्याय 28 दर्शन तथा भक्ति से मुड़कर विधि की ओर जाता है: यह वह अध्याय है जिसमें भगवान् कपिल, देवहूति की ओर से बिना किसी एक भी व्यवधान के, सम्पूर्ण प्रवचन का अपना सर्वाधिक विस्तृत व्यावहारिक निर्देश देते हैं — “अष्टांग योग” को नैतिक अनुशासन, शारीरिक आसन, प्राणायाम, तथा, सबसे उल्लेखनीय रूप से, भगवान् के सुन्दर स्वरूप के अंग-प्रत्यंग पर एक अत्यन्त विस्तृत ध्यान के क्रमबद्ध मार्ग के रूप में — चरणकमलों से लेकर मुस्कुराते मुखमण्डल तक, अन्ततः उस मन तक पहुँचते हुए जो प्रेम में इतना लीन हो जाता है कि वह पूर्णतः विलीन हो जाता है, ठीक जैसे कोई बुझा हुआ दीपक, एक ही परम तत्त्व में। अध्याय का अपना समापन-कोलोफ़न भी एक नए, परिवर्तित ढाँचे-नाम के अन्तर्गत आता है: अब “भगवान् कपिल की कथा” नहीं, अपितु “भगवान् कपिल की शिक्षाएँ।”

## अध्याय-परिचय

- शास्त्र: श्रीमद्भागवत महापुराण
- स्कन्ध: 3 (तृतीय स्कन्ध)
- अध्याय: 28 (अष्टाविंश अध्याय)
- अध्याय-शीर्षक: अष्टांग योग की प्रक्रिया (इस PDF की विषय-सूची तथा अध्याय-शीर्षिका के अनुसार; अध्याय की अपनी समापन-पंक्ति में इससे भिन्न एक वैकल्पिक शीर्षक भी दर्ज है — विवरण हेतु नीचे सत्यापन-टिप्पणियाँ देखें)
- मुख्य वक्ता: भगवान् कपिल, अपनी माता देवहूति को दिए जा रहे अपने अटूट प्रवचन को जारी रखते हुए (इस अध्याय में देवहूति की ओर से कोई हस्तक्षेप नहीं है)
- मुख्य श्रोता: देवहूति
- मुख्य स्थान: बिन्दुसरोवर के तट पर आश्रम, कपिल-गीता के पूर्ववर्ती अध्यायों से सीधे जारी
- मुख्य विषय-वस्तु: “बीज-सहित” (सबीज) योग की विस्तृत विधि — नैतिक तथा प्रारम्भिक अनुशासन, आसन, प्राणायाम, इन्द्रिय-निग्रह, तथा सबसे बढ़कर भगवान् के दिव्य स्वरूप का अंग-प्रत्यंग ध्यान, जो बढ़ते प्रेम के माध्यम से समाधि में मन के विलय तथा साधक द्वारा पृथक्, अखण्ड आत्मा के साक्षात्कार तक ले जाता है
- मुख्य श्लोक-सीमा: स्कन्ध 3, अध्याय 28, श्लोक 1–44
- मूल संस्करण: गीता प्रेस श्रीमद्भागवत महापुराण

## “बीज-सहित” योग: मार्ग का आरम्भ

अध्याय एक सावधान भेद के साथ आरम्भ होता है। भगवान् मात्र यह नहीं कहते कि “अब मैं तुम्हें योग सिखाऊँगा” — वे यह स्पष्ट करते हैं कि वे उस योग का वर्णन करने जा रहे हैं जो *सबीज* है, “बीज-सहित,” अर्थात् ऐसा ध्यान जो किसी वस्तु पर टिका होता है, न कि उस निर्विषय, निराकार परम तत्त्व में उस लीनता के, जिसने भगवान् की शिक्षा के पूर्ववर्ती भागों को व्याप्त किया है।

भगवान् ने आगे कहा: “हे राजकुमारी, अब मैं तुम्हें उस योग (ध्यान) की प्रकृति बताऊँगा जिसका कोई आधार-वस्तु होती है, जिसके अभ्यास से ही — और किसी अन्य विधि से नहीं — मन शुद्ध होकर भगवान् के मार्ग पर चलने लगता है।” (श्लोक 1)

यह एक ही आरम्भिक पंक्ति आगे आने वाली हर वस्तु को पुनः रूपायित करती है। जो अन्यथा आसनों तथा श्वास-व्यायामों की एक तकनीकी नियमावली के रूप में पढ़ी जा सकती थी, वह अपनी ही प्रथम वाक्य से एकमात्र लक्ष्य की ओर उन्मुख है: मन की शुद्धि, ताकि वह “भगवान् के मार्ग पर चलने लगे।” यहाँ विधि को भक्ति से कभी पृथक् नहीं किया गया है; अष्टांग योग स्वयं में साध्य के रूप में प्रस्तुत नहीं है, अपितु उस कहीं अधिक आत्मीय वस्तु के लिए आधार-भूमि के रूप में — भगवान् के स्वरूप के उस दर्शन के लिए, जो अध्याय के लम्बे केन्द्रीय भाग को व्याप्त करेगा।

श्रीभगवानुवाच योगस्य लक्षणं वक्ष्ये सबीजस्य नृपात्मजे ।

मनो येनैव विधिना प्रसन्नं याति सत्पथम् ॥ १ ॥

*śrī-bhagavān uvāca yogasya lakṣaṇam vakṣye sabijasya nṛpātmaje mano yenaiva vidhinā prasannaṁ yāti sat-patham*

अर्थ: भगवान् ने कहा: हे राजकुमारी, अब मैं उस योग की प्रकृति का वर्णन करूँगा जो किसी वस्तु पर आधारित होता है — वह एकमात्र विधि, जिसके द्वारा शुद्ध हुआ मन परम सत्य की ओर अग्रसर होता है। (स्कन्ध 3, अध्याय 28, श्लोक 1)



भगवान् कपिल योग की नैतिक तथा प्रारम्भिक आधार-भूमि का वर्णन करते हैं — अपना विहित कर्म, सन्तोष, अहिंसा, सत्यता, तथा वे अन्य अनुशासन जो आसन एवं प्राणायाम आरम्भ होने से पूर्व ही दृढ़तापूर्वक स्थापित हो जाने चाहिए (श्लोक 2-7)।

## आधार-भूमि: कर्तव्य, सन्तोष तथा संयम

आसन या श्वास का कोई भी उल्लेख होने से पूर्व, भगवान् चरित्र तथा आचरण की एक विस्तृत आधार-भूमि प्रस्तुत करते हैं — एक ऐसा अंश जिसे गीता प्रेस का यह संस्करण छह श्लोकों में फैले एक ही निरन्तर खण्ड के रूप में प्रस्तुत करता है।

अपनी क्षमता के अनुसार अपने विहित कर्तव्य को करना तथा निषिद्ध कर्मों से दूर रहना; ईश्वर की व्यवस्था से जो कुछ प्राप्त हो उसी में सन्तुष्ट रहना; आत्म-साक्षात्कार प्राप्त पुरुष के चरणों की आराधना करना तथा धार्मिक पुण्य, सांसारिक सम्पत्ति एवं इन्द्रिय-भोग की खोज से जुड़े कर्तव्यों से विरत होना; इसी प्रकार परम कल्याण की ओर ले जाने वाले कर्तव्यों में आनन्द लेना; शुद्ध भोजन नियन्त्रित मात्रा में ग्रहण करना; ऐसे स्थान में स्थायी रूप से रहना जो केवल एकान्त ही नहीं, अपितु उत्पीड़न से भी मुक्त हो; अहिंसा का पालन करना (विचार, वाणी तथा कर्म में); सत्य बोलना, चोरी से दूर रहना, अपनी सम्पत्ति को अपनी अत्यन्त आवश्यकता तक सीमित रखना, ब्रह्मचर्य का पालन करना, कठोर तपस्या करना, शरीर एवं मन की शुद्धता का पालन करना, वेदों तथा अन्य पवित्र ग्रन्थों का अध्ययन करना, देवता की आराधना करना, मौन का पालन करना, सर्वोत्तम आसनों में स्थिरता से दृढ़ता प्राप्त करना, धीरे-धीरे अपने श्वास को नियन्त्रित करना, अपनी इन्द्रियों को उनके विषयों से हटाकर मन की सहायता से हृदय की ओर मोड़ना, अपने मन तथा प्राण-वायु को शरीर के किसी रहस्यमय चक्र पर स्थिर करना, तथा भगवान् विष्णु की लीलाओं का निरन्तर, अटूट चिन्तन करते हुए अपने मन को समेटना — इन तथा अन्य ऐसी विधियों (जैसे उपवास रखना, दान देना इत्यादि) के द्वारा व्यक्ति को परिश्रमपूर्वक अपने श्वास को नियन्त्रित करना चाहिए तथा फिर धीरे-धीरे अपने बुद्धि की सहायता से दुष्ट मार्गों में आसक्त अपने दुष्ट मन पर अंकुश लगाकर उसे भगवान् के चिन्तन में लगाना चाहिए। (श्लोक 2-7)

श्रीधर स्वामी द्वारा उद्धृत एक टिप्पणी, जिसे यह संस्करण सीधे उद्धृत करता है, भोजन की मात्रा तक निर्दिष्ट करती है: “अपने उदर के दो चौथाई भाग को भोजन-सामग्री से, तथा एक चौथाई को जल से भरना चाहिए। चौथा भाग वायु के मुक्त संचार के लिए खाली रखना चाहिए।” उच्च दर्शन के इस अंश के मध्य यह एक छोटा, लगभग घरेलू विवरण है — तथा ठीक यही ब्रह्माण्डीय तथा सांसारिक का मिश्रण सम्पूर्ण अध्याय को चिह्नित करता है। इससे पूर्व कि मन को ध्यान में भगवान् के स्वरूप को देखना सिखाया जाए, शरीर तथा उसकी आदतों को पहले क्रम में लाया जाना चाहिए: व्यक्ति क्या खाता है, कहाँ रहता है, कैसे बोलता है, किससे विरत रहता है। दूसरे शब्दों में, अष्टांग योग मन से आरम्भ नहीं होता। यह एक जीवन-शैली से आरम्भ होता है।

## आसन तथा श्वास: मार्ग को स्वच्छ करना

नैतिक भूमि तैयार होने के पश्चात्, भगवान् वास्तविक शारीरिक विधि की ओर मुड़ते हैं — आसन तथा प्राणायाम, बैठक तथा श्वास।

आसन को वश में करने के पश्चात्, व्यक्ति को किसी अपवित्रता-रहित स्थान में कुशा-घास, मृगचर्म इत्यादि से बना एक आसन बिछाना चाहिए। तथा वहाँ सुखद आसन में बैठकर, शरीर को सीधा रखते हुए, श्वास-नियन्त्रण का अभ्यास करना चाहिए। (श्लोक 8) साधक को सबसे पहले वायु को अपनी पूर्ण क्षमता तक भीतर खींचकर, फिर श्वास को रोककर, तथा अन्ततः उसे बाहर निकालकर, अथवा इस क्रम को उलटकर — अर्थात् पहले वायु को बाहर निकालकर, फिर श्वास को बाहर ही रोककर, तथा अन्ततः भीतर खींचकर — श्वास के मार्ग को स्वच्छ करना चाहिए, ताकि मन स्थिर तथा विक्षेप-रहित हो सके। (श्लोक 9) जिस प्रकार वायु तथा अग्नि के बल से तपाया-गलाया हुआ सोना अपनी मैल त्याग देता है, उसी प्रकार श्वास को वश में कर चुके साधक का मन शीघ्र ही शुद्ध हो जाता है। (श्लोक 10) अतः साधक को चाहिए कि वह श्वास-नियन्त्रण की इन्हीं (तीन) प्रक्रियाओं से शरीर के तीन दोषों (वात, पित्त तथा कफ) को, मन की एकाग्रता से अपने पापों को, इन्द्रियों को उनके विषयों से हटाकर विषय-सम्पर्क को, तथा ध्यान के माध्यम से भगवान् की दिव्य प्रकृति के विपरीत गुणों (जैसे आसक्ति तथा द्वेष) को दूर करे। (श्लोक 11) जब उसका मन योग के अभ्यास से शुद्ध तथा एकाग्र हो जाए, तब उसे अपनी दृष्टि नासाग्र पर स्थिर करते हुए भगवान् के स्वरूप का ध्यान करना चाहिए। (श्लोक 12)

सोने के मैल त्यागने का यह बिम्ब अध्याय के सर्वाधिक स्मरणीय बिम्बों में से एक है — विस्तृत होने के कारण नहीं, अपितु अपनी सटीकता के कारण। श्वास-नियन्त्रण को स्वयं में प्राप्त की जाने वाली किसी विलक्षण शक्ति के रूप में प्रस्तुत नहीं किया गया है; इसे मन पर लगाई गई एक शुद्धिकारक अग्नि के रूप में प्रस्तुत किया गया है, ठीक उसी प्रकार जैसे अयस्क पर ताप लगाया जाता है, ताकि जो शेष बचे — विक्षेप तथा अव्यवस्था की मैल दूर हो जाने के पश्चात् — वह आगे आने वाले दर्शन को धारण करने योग्य मन हो।

प्राणस्य शोधयेन्मार्गं पूरकुम्भकरेचकैः ।

प्रतिकूलेन वा चित्तं यथा स्थिरमचञ्चलम् ॥ ९ ॥

*prāṇasya śodhayen mārgaṁ pūra-kumbhaka-recakaiḥ pratikūlena vā cittam yathā sthiram acañcalam*

अर्थ: पूरक (भरना), कुम्भक (रोकना) तथा रेचक (छोड़ना) की विधि से — अथवा उलटे क्रम से — प्राण-वायु का मार्ग निर्मल किया जाता है, जिससे मन अचंचल और स्थिर बन जाता है। (स्कन्ध 3, अध्याय 28, श्लोक 9)



अपवित्रता-रहित स्थान में कुशा-घास के आसन पर सीधा बैठकर, साधक त्रिविध श्वास-नियन्त्रण — पूरक, कुम्भक तथा रेचक — का अभ्यास करता है, उसका मन विक्षेप से उतना ही शुद्ध होता जाता है जितना सोना अग्नि से अपनी मैल त्यागकर शुद्ध होता है (श्लोक 8-12)।

## भगवान् का स्वरूप: शिर से चरण तक एक ध्यान

आगे अध्याय का सबसे लम्बा तथा सर्वाधिक उल्लेखनीय भाग आता है — कुछ इक्कीस श्लोक (13 से 33 तक) पूर्णतः भगवान् के सुन्दर स्वरूप के अंग-प्रत्यंग पर एक क्रमबद्ध ध्यान को समर्पित हैं। यह सम्पूर्ण मूर्ति के एक अखण्ड दर्शन से आरम्भ होता है।

भगवान् का मुखमण्डल प्रसन्न तथा कमल के समान है, नेत्र कमल के भीतरी भाग के समान लाल, तथा उनका शरीर नील कमल की पंखुड़ियों के समान श्याम वर्ण का है, जो अपने चारों ओर से तीन हाथों में शंख, चक्र तथा गदा धारण करते हैं। (श्लोक 13) उन्होंने अपनी कटि पर कमल-केसर के समान पीले रंग का चमकीला रेशमी वस्त्र लपेट रखा है, अपने वक्षस्थल पर श्रीवत्स का चिह्न धारण किए हैं, तथा अपने गले में

चमकीला कौस्तुभ मणि लटकाए हैं। (श्लोक 14) वे अपने गले में वन-पुष्पों की एक माला भी धारण करते हैं, जिसने अपनी सुगन्ध से मत्त होकर मधुर गुंजार करती मधुमक्खियों के झुण्ड को आकर्षित कर रखा है, तथा वे मोतियों की माला एवं मुकुट, तथा बाजूबन्द, कंगन एवं पायल के जोड़ों से — सभी अत्युत्तम — सुसज्जित हैं। (श्लोक 15) कटि तथा नितम्ब पर करधनी से सुशोभित, वे अपने भक्त के हृदय-कमल पर खड़े होते हैं, देखने में अत्यन्त मनोहर, शान्त भाव धारण किए हुए, तथा उन्हें देखने वालों की आत्मा एवं नेत्रों को आनन्दित करते हैं। (श्लोक 16) चिरयौवन में स्थित, उनका स्वरूप मनमोहक है, सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड द्वारा सदैव अभिनन्दित है, तथा वे अपने सेवकों पर अपनी कृपा दर्शाने के लिए अधीर रहते हैं। (श्लोक 17) उनकी महिमा गाने योग्य है तथा सबको पवित्र करती है; इस प्रकार भगवान् के अखण्ड स्वरूप का ध्यान तब तक करना चाहिए जब तक मन विचलित न हो। (श्लोक 18) भगवान् की लीलाएँ देखने में सर्वथा आकर्षक हैं; अतः सच्ची भक्ति से परिपूर्ण मन के साथ उन्हें खड़े, चलते, बैठे, लेटे अथवा अपने हृदय में निवास करते हुए दर्शना चाहिए। (श्लोक 19)

इस अखण्ड दर्शन को दृढ़तापूर्वक धारण करने के पश्चात् ही भगवान् साधक को व्यष्टि अंगों की ओर बढ़ने का निर्देश देते हैं: “यह जानकर कि उसका मन, यद्यपि भगवान् के पूर्वोक्त स्वरूप पर स्थिर है, फिर भी उनके सभी अंगों का केवल एक सामूहिक दृश्य ही ग्रहण करता है, साधक को चाहिए कि वह उसे भगवान् के प्रत्येक व्यष्टि अंग पर स्थिर करे।” (श्लोक 20) इसके पश्चात् आने वाला निर्देश अत्यन्त सुन्दर रूप से क्रमबद्ध है, चरणों से ऊपर की ओर बढ़ते हुए:

भक्त को सर्वप्रथम भगवान् के चरणकमलों पर ध्यान केन्द्रित करना चाहिए — जो वज्र, अंकुश, ध्वज तथा कमल के चिह्नों से सुशोभित हैं, जिनके उभरे हुए, लाल तथा चमकीले नखों की, चन्द्रमा की कान्ति के समान, आभा हृदय के घने अन्धकार को दूर करती है। (श्लोक 21) भगवान् शिव, भगवान् के चरणकमलों को धोने वाले जल में उत्पन्न होने वाली गंगा (सभी नदियों में श्रेष्ठ) के पवित्र जल को अपने शिर पर धारण करके और भी अधिक धन्य हुए; पुनश्च, उनके चरण भक्त के मन में संचित पापों के पर्वत को चूर्ण करने के लिए फेंके गए वज्र के समान हैं। इनका दीर्घकाल तक ध्यान करना चाहिए। (श्लोक 22) फिर भक्त को अजन्मा भगवान् (जो अपने भक्तों के जन्म-मरण को संक्षिप्त कर देते हैं) के घुटनों (तथा पिण्डलियों) को अपने हृदय में अंकित करना चाहिए, जिन्हें ब्रह्मा की जननी, कमल-नेत्री लक्ष्मी — जगत्-निर्माता ब्रह्मा की माता तथा देवताओं की पूजनीय — अपने चमकीले अंकुर-सदृश हाथों से सहलाती हैं, उन्हें अपनी जाँघों पर रखकर। (श्लोक 23) इसके पश्चात् उसे भगवान् की जाँघों पर मन स्थिर करना चाहिए, जो ऊर्जा का भण्डार हैं तथा अलसी के फूल की (नील) कान्ति रखती हैं, गरुड़ (पक्षिराज) के कन्धों पर धारण किए जाने पर सर्वाधिक सुन्दर दिखाई देती हैं। इसी प्रकार उसे उनके गोलाकार नितम्बों का चिन्तन करना चाहिए, जो करधनी से घिरे हुए हैं जो उत्कृष्ट पीले रेशम पर टिकी है जो उनके गुल्फों तक विस्तृत है। (श्लोक 24) अब उसे भगवान् के उदर के मध्य में स्थित, कुण्ड-सदृश नाभि का ध्यान करना चाहिए, जो लोकों की सम्पूर्ण व्यवस्था का आश्रय है, जिससे वह कमल उत्पन्न हुआ जो सभी लोकों का प्रतिनिधित्व करता है तथा स्वयंभू ब्रह्मा का निवास बनाता है। इसी प्रकार उसे भगवान् के स्तनाग्रों पर अपना चिन्तन केन्द्रित करना चाहिए, जो उत्कृष्ट पत्रों की एक जोड़ी के समान हैं, जो दूध-श्वेत मोतियों की मालाओं की किरणों के कारण श्वेताभ दिखाई देते हैं। (श्लोक 25) फिर उसे परम पुरुष के वक्षस्थल पर मन स्थिर करना चाहिए, जो देवी महालक्ष्मी का निवास है — जो चिन्तन करने वालों के मन तथा नेत्रों को आनन्द प्रदान करता है। उसे भगवान् की, जो सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड द्वारा पूजित हैं, ग्रीवा का भी एक चित्र अपने मन में अंकित करना चाहिए — ऐसी ग्रीवा जो कौस्तुभ मणि की शोभा को और भी बढ़ाती है। (श्लोक 26) फिर उसे भगवान् की चार भुजाओं पर अपना ध्यान केन्द्रित करना चाहिए, जो विभिन्न लोकों के रक्षकों का आश्रय हैं, जिनके आभूषण (बाजूबन्द इत्यादि) सृष्टि के आरम्भ में देवताओं के साथ क्षीरसागर-मन्थन के समय घूमते मन्दराचल पर्वत द्वारा चमकाए गए थे। उसे भगवान् के चक्र (सुदर्शन) का भी विधिवत् चिन्तन करना चाहिए, जिसमें सहस्र आरे हैं तथा जो चमकीली आभा रखता है, तथा शंख का भी, जो उनकी कमल-सदृश हथेली में एक हंस के समान प्रतीत होता है। (श्लोक 27) फिर उसे भगवान् की प्रिय गदा का स्मरण करना चाहिए, जो कौमोदकी नाम से जानी जाती है तथा शत्रु-योद्धाओं के थक्केदार रक्त से सनी है; उनकी माला (वन-पुष्पों की), जिसके साथ मधुमक्खियों का गुंजार जुड़ा है; तथा उनके गले पर सुशोभित मणि (कौस्तुभ), जो जीवों (अर्थात् आत्मा) की शुद्ध सार-भूत प्रकृति का प्रतिनिधित्व करती है। (श्लोक 28)

क्रमशः ऊर्ध्वगामी ध्यान अन्ततः मुखमण्डल तक पहुँचता है। फिर उसे भगवान् के कमल-सदृश मुखमण्डल पर अपने विचार को केन्द्रित करना चाहिए, जो अपने भक्तों पर करुणा के कारण इस संसार में अपना स्वरूप प्रकट करते हैं — ऐसा मुखमण्डल जो एक उभरी हुई नासिका से विशिष्ट है तथा जिसके स्फटिक-सदृश कपोल उनके चमचमाते मगरमच्छ-आकार के कुण्डलों की हलचल से आलोकित होते हैं। (श्लोक 29) घुंघराले केशों से अलंकृत तथा कमल-सदृश नेत्रों से युक्त, भगवान् का मुखमण्डल, जो आगे नर्तन करती हुई भौंहों से विशिष्ट है, अपनी शोभा से मधुमक्खियों से भरे उस कमल (देवी लक्ष्मी के निवास) को लज्जित करता है, जिस पर मछलियों की एक जोड़ी थिरक रही हो। सजग मन के साथ उसे इस पूर्वोक्त मुखमण्डल की एक संकल्पनात्मक छवि में लीन रहना चाहिए। (श्लोक 30) पूर्ण भक्ति के साथ उसे दीर्घकाल तक अपने हृदय में उन दृष्टियों का चिन्तन करना चाहिए जो करुणा से प्रेरित होकर भगवान् के भक्तों के भयंकर त्रिविध क्लेश को शान्त करने के लिए बार-बार उनके नेत्रों से डाली जाती हैं — दृष्टियाँ जो प्रेममयी मुस्कानों से युक्त तथा प्रचुर कृपा से परिपूर्ण हैं। (श्लोक 31) इसी प्रकार उसे भगवान् श्री हरि की अत्यन्त कृपामयी मुस्कान का ध्यान करना चाहिए, जो उन सबके, जो उन्हें प्रणाम करते हैं, गहन शोक से उत्पन्न अश्रु-सागर को सुखा देती है, तथा उनकी उन घुमावदार भौंहों का भी, जो अपनी ही माया (अद्भुत सृजनात्मक शक्ति) के बल से कामदेव (जिसका ध्वज मगरमच्छ के चिह्न को धारण करता है) को उन तपस्वियों के हित के लिए मोहित करने हेतु प्रकट होती हैं जो उससे उत्पीड़ित होते हैं। (श्लोक 32) प्रेम में डूबी पूर्ण भक्ति के साथ, उसे अन्ततः भगवान् विष्णु की उस हँसी पर अपना विचार स्थिर करना चाहिए, जिसे अपने हृदय की गुहा में निवास करती हुई कल्पित किया जाता है — ऐसी हँसी जो इतनी मनमोहक है कि उसका सहजता से ध्यान किया जा सकता है, तथा जिसके क्रम में उनके छोटे-छोटे दाँतों की पंक्तियाँ दृष्टिगोचर होती हैं, चमेली की कलियों के समान, जो उनके अधरों की प्रचुर (लाल) शोभा से गुलाबी रंग की हो गई हैं। तथा इसी में अपने मन को (एकनिष्ठ रूप से) समर्पित करके, उसे और कुछ भी देखने की इच्छा नहीं करनी चाहिए। (श्लोक 33)

इस क्रम में ही कुछ शिक्षाप्रद है: भक्त सर्वाधिक मोहक अंग — भगवान् के मुखमण्डल — से आरम्भ नहीं करता, अपितु श्लोक-दर-श्लोक क्रमशः इस दर्शन को अर्जित करता है — पहले चरण, फिर घुटने, जाँघें, नाभि, वक्षस्थल, भुजाएँ, तथा अन्ततः ही मुखमण्डल तथा उसकी मुस्कान — ठीक वैसे ही जैसे कोई अपने गुरु के पास इस विनम्रता के साथ आगे बढ़ता है कि नेत्रों से मिलने का साहस करने से पूर्व चरण-स्पर्श करे।

प्रसन्नवदनाम्भोजं पद्मगर्भरुणेक्षणम् ।

नीलोत्पलदलश्यामं शङ्खचक्रगदाधरम् ॥ १३ ॥

*prasanna-vadanāmbhojaṁ padma-garbhāruṇekṣaṇam nīlotpala-dala-śyāmaṁ śaṅkha-cakra-gadā-dharam*

अर्थ: भगवान् का मुख कमल-सा सुहावना है, उनके नेत्रों में कमल-गर्भ जैसी लालिमा है, उनका वर्ण नील कमल-दल जैसा श्याम है, और वे अपने हाथों में शंख, चक्र तथा गदा धारण किए हैं। (स्कन्ध 3, अध्याय 28, श्लोक 13)



भक्त सर्वप्रथम भगवान् के अखण्ड स्वरूप को मन में धारण करता है — कमल-सदृश मुखमण्डल, शंख, चक्र तथा गदा, भक्त के अपने ही हृदय-कमल पर तेजोमय खड़े हुए —  
इससे पूर्व कि वह प्रत्येक अंग का पृथक् ध्यान आरम्भ करे (श्लोक 13-20)।

सञ्चिन्तयेद्भगवतश्चरणारविन्दं वज्राङ्कुशध्वजसरोरुहलाञ्छनाढ्यम् ।  
उत्तुङ्गरक्तविलसन्नखचक्रवालज्योत्स्नाभिराहतमहद्धृदयान्धकारम् ॥ २१ ॥

*sañcintayed bhagavataś caraṇāravindam vajrāṅkuśa-dhvaja-saroruha-lāñchanāḍhyam uttuṅga-  
rakta-vilasan-nakha-cakravāla- jyotsnābhir āhata-mahad-dhṛdayāndhakāram*

अर्थ: भगवान् के चरणकमलों का ध्यान करना चाहिए, जो वज्र, अंकुश, ध्वज तथा कमल से चिह्नित हैं, जिनके उन्नत, लाल, चमकीले नखों की चन्द्र-सदृश आभा हृदय के गहन अन्धकार को दूर करती है। (स्कन्ध 3, अध्याय 28, श्लोक 21)



भक्त अंग-प्रत्यंग ध्यान का आरम्भ भगवान् के चरणकमलों से करता है — जो वज्र, अंकुश, ध्वज तथा कमल से चिह्नित हैं, जिनसे पवित्र गंगा अपना उद्गम पाती हैं, जिन्हें स्वयं भगवान् शिव भी अपने शिर पर धारण करते हैं (श्लोक 21-22)।



घुटनों तथा जाँघों से ऊपर उठते हुए, ध्यान भगवान् की कुण्ड-सदृश नाभि तक पहुँचता है — जो ब्रह्माण्डीय कमल का स्रोत तथा ब्रह्मा का जन्म-स्थान है — तथा उनकी चार भुजाओं तक, जो सुदर्शन चक्र, शंख, गदा कौमोदकी, तथा कौस्तुभ मणि धारण करती हैं (श्लोक 23-28)।

## प्रेम, अश्रु, तथा विलीन होता मन

भगवान् के मुस्कुराते मुखमण्डल तथा हँसी पर ध्यान पूर्ण करने के पश्चात्, अध्याय इस वर्णन की ओर मुड़ता है कि इस दर्शन को निष्ठापूर्वक धारण करने वाले भक्त के साथ वास्तव में क्या घटित होता है — तथा यह वर्णन तत्त्वमीमांसीय होने से पूर्व अत्यन्त शारीरिक तथा भावनात्मक है।

इस पूर्वोक्त ध्यान-विधि का अनुसरण करते हुए भक्त श्री हरि के प्रति प्रेम विकसित करता है: भक्ति से उसका हृदय पिघल जाता है, अत्यधिक हर्ष से उसके शरीर के रोम खड़े हो जाते हैं, तथा तीव्र प्रेम के कारण वह निरन्तर अश्रुधारा में स्नान करता है — इस प्रकार वह अब धीरे-धीरे उस मन को भी अपने ध्यान की वस्तु से हटा लेता है, जिसे अब तक उसके द्वारा श्री हरि को आकर्षित करने के साधन के रूप में उपयोग किया जा रहा था, ठीक वैसे ही जैसे मछली पकड़ने के लिए काँटे का उपयोग किया जाता है। (श्लोक 34)

काँटे की यह उपमा उल्लेखनीय है: वह विस्तृत, बिम्ब-समृद्ध ध्यान भगवान् के स्वरूप पर, जो अभी इक्कीस श्लोकों में व्याप्त रहा है, इस अन्तिम चरण में स्वयं एक उपकरण-मात्र सिद्ध होता है — एक काँटा, जिसे मन को भगवान् की ओर खींचने के लिए फेंका गया था, जो उपयोगी है ठीक तब तक जब तक उसका कार्य पूर्ण न हो जाए, तथा फिर, ठीक जैसे मछली फँस जाने पर काँटे की, उसकी आगे कोई आवश्यकता नहीं रहती। आगे जो होता है वह अध्याय का दार्शनिक चरमोत्कर्ष है।

जिस प्रकार तेल आदि जल जाने पर तथा दीपक टूट जाने पर दीपक की लौ बुझ जाती है — अर्थात् वह अपने कारण, अग्नि-तत्त्व के साथ एक हो जाती है — उसी प्रकार मन तत्काल विलीन हो जाता है, ब्रह्म के साथ एक हो जाता है, ज्योंही वह आत्मा के रूप में अपने बन्धन से कट जाता है तथा, वासना-रहित होकर, किसी वस्तु का चिन्तन करना बन्द कर देता है। इस अवस्था में शरीर आदि के रूप में आत्मा के उपाधियों के — जो प्रकृति के गुणों के एक निरन्तर प्रवाह के अतिरिक्त कुछ नहीं हैं — हट जाने पर, साधक सर्वत्र व्याप्त उस एक परम तत्त्व को देखता है, जिसमें विषय, वस्तु इत्यादि का कोई भेद नहीं है। (श्लोक 35)

योग के अभ्यास द्वारा लाई गई तथा अज्ञान से मुक्त इस मन की विलीनता के माध्यम से अपनी ही सत्ता की महिमा में — जो हर्ष तथा शोक दोनों से परे है — प्रतिष्ठित होकर, साधक परमात्मा के सत्य को साक्षात् करता है, तथा यह जानता है कि सुख तथा दुःख, तथा उनका अनुभव भी, जिसे उसने अब तक अपनी ही आत्मा को समर्पित किया था, वास्तव में अहंकार के हैं, जो अज्ञान की उपज है। (श्लोक 36) जिस प्रकार मदिरा के नशे से अन्धा हुआ व्यक्ति यह नहीं देखता कि उसकी कटि पर लपेटा हुआ वस्त्र अभी है भी या गिर चुका है, उसी प्रकार इस अन्तिम अवस्था को प्राप्त प्रबुद्ध आत्मा यह विवेचन नहीं करती कि जिस शरीर को वे अब भी अपना कहते हैं वह बैठा है या उठा है, ईश्वर की इच्छा से (अपने स्थान से) हटा है या उसी की इच्छा से (उस स्थान पर) लौटा है; क्योंकि उसने अपने सारभूत चरित्र को साक्षात् कर लिया है। (श्लोक 37) शरीर भी, जो (अब) ईश्वर की इच्छा के अधीन है, अपनी इन्द्रियों के साथ तब तक बना रहता है जब तक उसके अस्तित्व में योगदान देने वाला भाग्य समाप्त नहीं हो जाता। फिर भी, वह प्रबुद्ध आत्मा, जिसने समाधि (गूढ़ ध्यान) में परिणत होने वाले योग की चरम सीमा प्राप्त कर ली है, अब उस शरीर को, अथवा उससे जुड़े लोगों (जैसे पत्नी, सन्तान इत्यादि) को अपना नहीं मानती, ठीक वैसे ही जैसे जागा हुआ व्यक्ति स्वप्न में देखे गए शरीर आदि को अब अपना नहीं मानता। (श्लोक 38)

मुक्ताश्रयं यर्हि निर्विषयं विरक्तं निर्वाणमृच्छति मनः सहसा यथार्चिः ।

आत्मानमत्र पुरुषोऽव्यवधानमेकम् अन्वीक्षते प्रतिनिवृत्तगुणप्रवाहः ॥ ३५ ॥

*muktāśrayaṁ yarhi nirviṣayaṁ viraktaṁ nirvāṇam ṛcchati manaḥ sahasā yathārciḥ ātmānam  
atra puruṣo 'vyavadhānam ekam anvīkṣate pratinivṛtta-guṇa-pravāhaḥ*

अर्थ: जब मन, अपने विषय से मुक्त तथा विरक्त होकर, सहसा उसी प्रकार निर्वाण (बुझ जाना) को प्राप्त हो जाता है जैसे एक लौ बुझ जाती है, तब पुरुष उस अखण्ड आत्मा को प्रत्यक्ष देखता है, गुणों का प्रवाह उलट चुका होता है। (स्कन्ध 3, अध्याय 28, श्लोक 35)



जैसे-जैसे प्रेम अश्रु तथा रोमांच में तीव्र होता जाता है, भक्त अपने मन को भी ध्यान की वस्तु से हटा लेता है — मन उसी प्रकार विलीन होता है जैसे दीपक का तेल समाप्त होने पर उसकी लौ बुझ जाती है, उस एक अखण्ड परम तत्त्व को प्रकट करते हुए (श्लोक 34-36)।

## अग्नि तथा काष्ठः पृथक् आत्मा की प्रकृति

अध्याय का समापन-प्रवाह शीघ्रता से तीन उपमाएँ प्रस्तुत करता है, जो जीवात्मा, शरीर, सार्वभौमिक आत्मा तथा भगवान् के बीच के सम्बन्ध के लिए हैं — प्रत्येक पूर्व से अधिक सटीक।

जिस प्रकार थोड़ा विचार करने पर व्यक्ति को अपने पुत्र तथा सम्पत्ति से पृथक् महसूस किया जाता है, जिन्हें सामान्य लोग अत्यधिक स्नेह के कारण अपना ही आत्मा मान लेते हैं, उसी प्रकार अनुभवकर्ता को शरीर, इन्द्रियों तथा अन्य उपाधियों से पृथक् पहचाना जाता है, जिन्हें अज्ञान के कारण सामान्यतः अपने ही आत्मा के रूप में पहचाना जाता है। (श्लोक 39) (एक अन्य उदाहरण लें तो) जिस प्रकार अग्नि जलती हुई काठी के एक टुकड़े से, एक चिंगारी से, अथवा उससे उठते हुए धुएँ से भी पृथक् है, तथा जिस प्रकार वह उस मशाल से भी पृथक् है, जिसे उसके साथ तादात्म्य में पहचाना जाता है, उसी प्रकार अनुभवकर्ता तत्त्वों, इन्द्रियों तथा अन्तःकरण से पृथक् है; सर्वव्यापी आत्मा, जिसे ब्रह्म कहा जाता है, स्वयं उस अनुभवकर्ता से भी पृथक् है, जिसे जीव (एक व्यष्टि आत्मा) कहा जाता है; तथा भगवान् (परम पुरुष) प्रकृति से पृथक् हैं (जिसे वे ही सक्रिय करते हैं)। (श्लोक 40-41)

सभी प्राणियों में आत्मा को समरूप तथा आत्मा में सभी प्राणियों को समरूप देखना चाहिए, ठीक वैसे ही जैसे (चार योनियों के) सभी प्राणी — स्तनधारी, अण्डज, स्वेदज तथा भूमि से उत्पन्न होने वाले जीव — स्थूल तत्त्वों के साथ सार में समरूप देखे जाते हैं (उन्हीं के उत्पाद होने के कारण)। (श्लोक 42) जिस प्रकार अग्नि, यद्यपि एक तथा अभिन्न है, उसे प्रकट करने वाले माध्यमों (काठी के टुकड़ों इत्यादि) में उनकी विविध विशेषताओं (आकार, रूप इत्यादि) के कारण विविध-सी प्रतीत होती है, उसी प्रकार आत्मा, यद्यपि एक है, विभिन्न भौतिक शरीरों में स्थित रहने के कारण, उन शरीरों की विविध विशेषताओं (जाति इत्यादि) के कारण भिन्न-सी प्रतीत होती है। (श्लोक 43)

अध्याय फिर एक ही निर्णायक श्लोक पर समाप्त होता है। अतः, भगवान् की कृपा से, इस अपनी दिव्य प्रकृति (माया) को — जो सच्चरित्र को आच्छादित करती है तथा भगवान् के अंश जीव के बन्धन का कारण बनती है, वरन् जो कारण तथा कार्य दोनों के रूप में प्रकट होती है तथा जिसे समझना अत्यन्त कठिन है — जीतकर, भगवान् का भक्त अपनी सच्ची सत्ता को साक्षात् करता है। (श्लोक 44)

अग्नि-काष्ठ की यह उपमा अध्याय की अन्तिम शिक्षा-युक्ति के रूप में इसलिए स्थान पाती है क्योंकि यह अपनी दैनंदिन परिचितता के कारण अत्यन्त प्रभावी है: अग्नि को देखने वाला कोई भी व्यक्ति जानता है कि लौ न तो लकड़ी है, न वह चिंगारी जो वह फेंकती है, न वह धुआँ जो उससे उठता है, फिर भी वह इन तीनों के साथ पूर्णतः जुड़ी हुई प्रतीत होती है। इसी प्रकार, अध्याय जोर देता है, आत्मा, मन, शरीर तथा उनकी अनेक उलझनों के साथ भी है — सम्बद्ध, किन्तु गहनतम स्तर पर कभी तादात्म्यापन्न नहीं।

तस्मादिमां स्वां प्रकृतिं दैवीं सदसदात्मिकाम् ।  
दुर्विभाव्यां पराभाव्य स्वरूपेणावतिष्ठते ॥ ४४ ॥

*tasmād imāṁ svāṁ prakṛtiṁ daivīm sad-asad-ātmikām durvibhāvyaṁ parābhāvya svarūpeṇāvatiṣṭhate*

अर्थ: अतः, अपनी इस दिव्य प्रकृति को — जिसे समझना अत्यन्त कठिन है, तथा जो कारण एवं कार्य दोनों है — जीतकर, व्यक्ति अपनी ही सच्ची प्रकृति में प्रतिष्ठित हो जाता है। (स्कन्ध 3, अध्याय 28, श्लोक 44)



कपिल अध्याय का समापन अग्नि तथा काष्ठ की उपमा से करते हैं — लौ लकड़ी, चिंगारी तथा धुएँ से पृथक् है, फिर भी उनके साथ अटूट रूप से जुड़ी हुई है — यह सिखाते हुए कि आत्मा, यद्यपि शरीर तथा मन में उलझी हुई प्रतीत होती है, अपनी ही सच्ची सत्ता में प्रतिष्ठित होने तक सदैव पृथक् ही रहती है (श्लोक 39-44)।

भगवान् कपिल मन को क्षण-भर के लिए भी किसी अमूर्त या निराकार तत्त्व पर टिकने नहीं देते, और इसका एक स्पष्ट कारण है। अंग-प्रत्यंग ध्यान के आरम्भ से ही वे मन को थामने हेतु एक मुखमण्डल देते हैं — कमल-सदृश मुख, अरुण नेत्र, सुरभित पुष्प-माला, करधनी-सुशोभित कटि (श्लोक 13, 15, 16) — और आदेश देते हैं कि सम्पूर्ण स्वरूप को अंगों में विभाजित करने से पहले उसे स्थिर मन से समग्र रूप में धारण किया जाए (श्लोक 18, 20)। दूसरे शब्दों में, अष्टांग योग का लक्ष्य मन को किसी शून्यता में खाली करना कभी नहीं रहा; अपितु उसे भगवान् की ही छवि से इतना भर देना था कि उसमें रिक्तता की गुंजाइश ही न बचे। और जब वह मन अन्ततः विलीन होता है, तो समापन-श्लोक किसी निर्वैयक्तिक तत्त्व में विलय का वर्णन नहीं करता, अपितु यह बताता है कि माया को जीतकर साधक भगवद्भक्त के रूप में ही अपनी सच्ची पहचान पाता है (श्लोक 44)। मुक्ति यहाँ प्रेम करने वाले का अन्त नहीं, अपितु निर्बाध प्रेम का आरम्भ है।

## इस अध्याय को प्रमुख शिक्षाएँ

1. विधि सदैव भक्ति की सेवा करती है, कभी विपरीत नहीं। भगवान् की प्रथम पंक्ति ही सम्पूर्ण अष्टांग योग को मन की शुद्धि के साधन के रूप में रूपायित करती है, ताकि वह “भगवान् के मार्ग पर चले” — तकनीक को कभी स्वयं में साध्य के रूप में प्रस्तुत नहीं किया गया (श्लोक 1)।
2. आचरण आसन से पहले आता है। नैतिक तथा जीवन-शैली सम्बन्धी अनुशासन के पूरे छह श्लोक — कर्तव्य, सन्तोष, अहिंसा, सत्यता, नियन्त्रित भोजन, एकान्त निवास — किसी भी बैठने या श्वास लेने के निर्देश से पहले आते हैं (श्लोक 2-7)।
3. श्वास-नियन्त्रण को एक शुद्धिकारक अग्नि के रूप में वर्णित किया गया है। ताप से मैल त्यागते सोने की उपमा, मन में श्वास-नियन्त्रण को क्या सिद्ध करना है, इसे शारीरिक तथा स्पर्शनीय भार प्रदान करती है (श्लोक 10)।
4. ईश्वर का दर्शन चरणों से आरम्भ करके क्रमबद्ध रूप से अर्जित किया जाता है। भक्त भगवान् के मुखमण्डल से आरम्भ नहीं करता, अपितु क्रमशः इस दर्शन को अर्जित करता है — चरण, घुटने, नाभि, वक्षस्थल, भुजाएँ, तथा तभी मुखमण्डल तथा उसकी मुस्कान (श्लोक 21-33)।
5. ध्यान का साधन स्वयं अन्ततः त्याग दिया जाता है। भगवान् के स्वरूप पर मन को स्थिर करने के लिए प्रयुक्त उस मन की तुलना मछुआरे के काँटे से की गई है — भगवान् की ओर मन को खींचने के लिए आवश्यक, तथा एक बार अपना प्रयोजन पूरा हो जाने पर वापस ले लिया जाने वाला (श्लोक 34)।
6. अन्तिम लीनता को विनाश के रूप में नहीं, अपितु बुझती हुई लौ के रूप में वर्णित किया गया है। समाधि में मन का विलय उस एक अखण्ड परम तत्त्व को प्रकट करता है जो पहले से सर्वत्र व्याप्त है; यह एक हानि नहीं, अपितु उसी की एक खोज है (श्लोक 35)।
7. आत्मा सदैव पृथक् रहती है — शरीर से, अहंकार से, वरन् सार्वभौमिक आत्मा से भी — फिर भी सभी प्राणियों के साथ सार में समरूप है। समापन की अग्नि-काष्ठ उपमाएँ बिना किसी विरोधाभास के आत्मा की पूर्ण पृथक्ता तथा सभी जीवों के साथ उसकी अन्तर्निहित एकता दोनों को साथ धारण करती हैं (श्लोक 39-44)।

## एक भक्तिपूर्ण चिन्तन

इस अध्याय की तकनीकी परिशुद्धता के भीतर छिपी एक कोमलता है, जिसे पहली बार पढ़ने पर चूक जाना सरल है। भगवान् कपिल अपनी माता को केवल किसी अमूर्त बिन्दु-प्रकाश अथवा किसी निर्वैयक्तिक तत्त्व पर एकाग्र होने की आज्ञा नहीं देते; वे उन्हें, तथा उनके माध्यम से हर भावी पाठक को, एक ऐसा मुखमण्डल देते हैं जिसे प्रेम किया जा सके — एक प्रसन्न मुखमण्डल, लाल नेत्र, एक मृदु मुस्कान जो अश्रु-सागर को सुखा देती है। यहाँ वर्णित अष्टांग योग अपने अनुशासन में मांगपूर्ण है, फिर भी उसका लक्ष्य, श्लोक-दर-श्लोक, आश्चर्यजनक रूप से आत्मीय ही बना रहता है: शक्ति नहीं, असाधारण अनुभूति नहीं, अपितु मात्र उस प्रिय मुखमण्डल का दर्शन, जिसे हृदय में इतने लम्बे तथा इतने पूर्ण रूप से धारण किया जाए कि धारण करने वाला तथा धारण किया गया अन्ततः दो के रूप में अनुभव किए जाना बन्द कर दें। तथा जब वह मन अन्ततः विलीन होता है, अध्याय सावधानीपूर्वक जोर देता है, कोई सच्ची वस्तु खोई नहीं जाती — केवल मैल, वह सोना जो अपनी ही अग्नि से परिष्कृत हुआ हो, जल जाती है।

## दैनिक भाक्ते-अभ्यास

आज, इस अध्याय के सम्पूर्ण तकनीकी क्रम को अपनाने के स्थान पर, केवल इसके आरम्भिक भाव को अपनाएँ। कुछ शान्त मिनट ढूँढ़ें; अपनी पीठ को सहज रूप से सीधा रखते हुए, जो भी आसन आपको उपलब्ध हो, उस पर बैठें; तथा बिना किसी बल के, अपनी श्वास को भीतर तथा धीरे-धीरे बाहर जाते हुए देखें, उसे उसी प्रकार स्थिर होने दें जैसे यह अध्याय सोने को अपनी मैल जलाते हुए स्थिर होते हुए वर्णित करता है। फिर, उस स्थिरता में, मन में लाएँ — किसी अमूर्त विचार को नहीं, अपितु एक वास्तविक, उष्ण छवि को — इस अध्याय द्वारा वर्णित उस मुस्कुराते, करुणामय मुखमण्डल को: कृपा से परिपूर्ण नेत्र, एक मुस्कान जो शोक को विलीन कर देती है। इसे कोमलता से, बिना किसी बल के धारण करें, ठीक वैसे ही जैसे कोई किसी गहन प्रिय की स्मृति को धारण करता है। समापन में धीरे से दोहराएँ: “ॐ नमो भगवते वासुदेवाय।” श्वास, आसन, तथा स्मृत मुस्कान को, इन कुछ मिनटों के लिए, ठीक वही बनने दें जो यह अध्याय उन्हें कहता है — एक बीज, जो मन के अन्तिम तथा आनन्दमय समर्पण के लिए बोया गया है।

## निष्कर्ष

तृतीय स्कन्ध का अट्ठाईसवाँ प्रवचन कपिल-गीता का सर्वाधिक व्यावहारिक अध्याय है — एक क्रमबद्ध नियमावली जो नैतिक आधार-भूमि से होकर आसन तथा प्राणायाम तक, फिर भगवान् के अपने तेजोमय स्वरूप पर एक अभूतपूर्व, अंग-प्रत्यंग ध्यान तक, तथा अन्ततः उस मन के ही विलय तक पहुँचती है जिसने यह साधना की थी। यह उचित ही है कि अध्याय का समापन-कोलोफ़न गीता प्रेस के सम्पादक की अपनी भाषा में एक शान्त परिवर्तन को चिह्नित करता है — “भगवान् कपिल की कथा” से “भगवान् कपिल की शिक्षाएँ” तक — क्योंकि यह अध्याय, इस श्रृंखला के किसी भी पूर्ववर्ती अध्याय से अधिक, कथा के रूप में नहीं, अपितु प्रत्यक्ष निर्देश के रूप में पढ़ा जाता है, जो एक पुत्र द्वारा अपनी माता को, तथा उनके माध्यम से हर उस आत्मा को दिया गया है जो भगवान् के मुस्कुराते मुखमण्डल को हृदय में तब तक धारण करना चाहती है जब तक हृदय स्वयं, अग्नि में शुद्ध हुए सोने की भाँति, कुछ भी धारण करने की आवश्यकता से मुक्त न हो जाए।

श्रीमद्भागवत की दिव्य ज्ञान-ज्योति हमारे हृदयों में शुद्ध भक्ति का जागरण करे।

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय।

जय श्री माधव।

## सन्दर्भ तथा आभार

- मूल संस्करण: गीता प्रेस, *श्रीमद्भागवत महापुराण* (अंग्रेज़ी, सम्पूर्ण), तृतीय स्कन्ध, अट्ठाईसवाँ प्रवचन, पृष्ठ 262–267।
- श्रृंखला: श्रीमद्भागवतम् विज़डम • विश्व सनातन धर्म सेवा ट्रस्ट।
- पण्डित डॉ. श्री काशीनाथ मिश्र के आध्यात्मिक मार्गदर्शन तथा अनुशंसा का अनुसरण करते हुए प्रस्तुत।

यह लेखक के अपने शब्दों में एक मौलिक, निष्ठावान् पुनर्कथन है, जिसमें संक्षिप्त उद्धृत श्लोक देवनागरी तथा लिप्यन्तरण में दर्शाए गए हैं तथा उनके अर्थ सारांश के रूप में दिए गए हैं। यह किसी एक प्रकाशक के निरन्तर अनुवाद या टीका की प्रतिलिपि नहीं है। किसी भी प्रकाशक के साथ कोई सम्बद्धता या समर्थन निहित नहीं है।

॥ हरि ॐ तत्सत् ॥

जय श्री माधव

ऑनलाइन पढ़ें: [kalkiabatara.org/hi/blog-srimad-bhagavatam-skandh-3-adhyay-28-ashtang-yoga.html](http://kalkiabatara.org/hi/blog-srimad-bhagavatam-skandh-3-adhyay-28-ashtang-yoga.html)

श्रीमद्भागवतम् विज्ञम • कल्कि अवतार इंटरनेशनल • बिस्व सनातन धर्म सेवा ट्रस्ट

